22

साधना-2

ध्यान दें:

पूर्वपाठ में साधना का सामान्य निरूपण किया गया है। वेदान्तसाधनों मे जो क्रम है उसी क्रम का अनुसरण यहाँ पर इन पाठों में किया गया है। मोक्ष विषय प्रत्यक्ष गम्य नहीं होकर के अनुमान के द्वारा गम्य होता है। यह मात्र आगम के द्वारा गम्य होता है। इसलिए साधक की हमेशा यह जिज्ञासा रहती है की प्रमाण भूत आगम क्या है। इसलिए साधनों का जो क्रम है उसका प्रमाणों के साथ इस पाठ में उपस्थापन किया गया है। सप्रमाण ज्ञान होता है तो साधक सन्देह रहित तथा श्रद्धावान होकर के साधनों में प्रवर्तित होता है। इस प्रकार से यह उपन्यास प्रपञ्च प्रारम्भ किया जा रहा है।

उद्देश्य

इस पाठ के अध्ययन के द्वारा आप सक्षम होंगे;

- साधनों में विद्यमान क्रम का सप्रमाण ज्ञान जानने में;
- अन्तरङ्ग तथा बहिरङ्ग साधनों के विभाग को जानने में;
- जन्तुओं के मोह का कारण जानने में;
- अज्ञान के नाश का उपाय जानने में;
- संन्यास के भेदों को जानने में;
- काम्यादि कर्म कर्तव्य तथा निषिद्ध कर्मों के बारे में ज्ञान प्राप्त करने में;
- कर्म के भेदों को जानने में;
- गुणों का चित्त में प्रभाव का अनुभव प्राप्त करने में;
- काम्यनिषिद्ध नित्यनैमित्तिक प्रायश्चित्त रूप कर्मों का सविस्तारपूर्वक ज्ञान प्राप्त करने में;
- उपासना को जानने में;

ध्यान दें:

22.1) साधन सोपान

अन्तरङ्ग तथा बहिरङ्गसाधन

वेदान्त में अन्तरङ्ग साधन तथा बहिरङ्ग साधन इस प्रकार से दो विभाग परिलक्षित होते हैं। अधिकारित्वसम्पादन कर्तव्य तथा साधन बहिरङ्ग साधन कहलाते हैं। गुरु के द्वारा कहे गये उपनिषद् से सम्बन्धित साधन अन्तरङ्ग साधनों में गिने जाते हैं इस प्रकार से यह स्थूलविभाग होते हैं।

परम्परा से प्राप्त साधन ही शास्त्रों में कुछ बहिरङ्गसाधन इस प्रकार से कहे जाते है। अन्त: करणशुद्धिकरण परक चित्तैकाग्र शुद्धि परक साधन, साधन चतुष्टय कहे जाते हैं वो सभी इनके अन्तर्गत होते हैं। कर्मयोगादि नाना प्रकार के साधानों का मुमुक्षुओं को फल प्राप्त करवाने के लिए शास्त्रों में उपदेश दिया गया है।

इस प्रकार से अधिकार के लाभ के लिए करने योग्य साधन बहिरङ्ग साधन कहलाते हैं। तथा अधिकार प्राप्त करने पर करने योग्य श्रवणादि साधन अन्तरङ्ग साधन कहलाते हैं। कुछ स्थानों पर चित्तशुद्धिकारक कर्म तथा चित्तैग्रतासम्पादिका उपासना इस प्रकार से ये दो बहिरङ्ग साधन कहालाते हैं। विवेकादि साधनचतुष्टय अन्तरङ्गसाधनत्व के द्वारा गिने जाते हैं।

अधिकारी के द्वारा बहुत साधनों को करने के लिए उपदेश दिया गया है। उनमें कोई क्रम होता है। इसलिए किस साधन के बाद में कौन सा साधन करें यह बात मुमुक्षुओं को अच्छी प्रकार से जान लेना चाहिए। किसी साधन का किसी भी क्रम में अनुष्ठान करने पर कोई कामाचार नहीं होता है। वह ही क्रम विविध प्रमाणों के साथ बताया जा रहा है।

यथोक्तसाधनसम्पत्त्यनन्तरं ब्रह्मजिज्ञासा कर्तव्या॥ (ब्र.सू.शा.भा.1.1.1)

इस वचन से यह ज्ञात होता है की साधनसम्पत्ति के लाभ के बाद ही ब्रह्मजिज्ञासा करनी चाहिए। इसलिए भाष्य में कहा है

तस्मात् किमपि वक्तव्यं यदनन्तरं ब्रह्मजिज्ञासा उपदिश्यत इति। उच्यते- नित्यानित्यवस्तुविवेक: इहामुत्रार्थभोगविराग: शमदमादिसाधनसम्पत् मुमुक्षुत्वं च। तेषु हि सत्सु, प्रागपि धर्मजिज्ञासाया ऊर्ध्वं च, शक्यते ब्रह्म जिज्ञासितुं ज्ञातुं च। न विपर्यये। (ब्र.सू.शा.भा.1.1.1)

तात्पर्य पूर्व मीमांसा दर्शन प्रतिपाद्य विषय ही धर्मजिज्ञासा का होता है। कुछ लोग कहते हैं की कर्मकाण्ड के बिना ज्ञानकाण्ड सम्भव नहीं होता है। लेकिन धर्म जिज्ञासा के बिना ब्रह्मजिज्ञासा सम्भव होती है। लेकिन यदि नित्यानित्यवस्तु विवेक इहामुत्रार्थभोगविराग शब्दादिसाधन तथा मुमुक्षुत्व नहीं होते हैं तो ब्रह्मजिज्ञासा भी सम्भव नहीं होती है। इसलिए सर्पप्रथम इनको सम्पादित करके ब्रह्म जिज्ञासा करनी चाहिए। तथा धर्म तथा ब्रह्म जिज्ञासा का पूर्व पर भाव नहीं कहा गया है। लेकिन साधन चतुष्टय सम्पत्ति के उत्तर में ही ब्रह्मजिज्ञासा यह क्रम स्पष्टरूप से समझा गया है।

युक्त: कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम्।
अयुक्त: कामकारेण फले सक्तो निबध्यते॥ (गीता 5.12)

सब कर्म ईश्वर के लिये ही हैं मेरे फल के लिये नहीं इस प्रकार निश्चय वाला योगी कर्म फल का त्याग करके ज्ञान निष्ठा में होने वाली मोक्ष रूप परम शान्ति को प्राप्त हो जाता है। यहाँ पहले अन्त:करण की शुद्धि फिर ज्ञान प्राप्ति फिर सर्व कर्म संन्यास रूप ज्ञान निष्ठा की प्राप्ति इस प्रकार क्रम से परम शान्ति को प्राप्त होता है इतना वाक्य अधिक समझ लेना चाहिये। परंतु जो अयुक्त है अर्थात् उपर्युक्त निश्चय वाला नहीं है वह काम की प्रेरणा से अपने फल के लिये यह कर्म मैं करता हूँ इस प्रकार फल

ध्यान दें:

में आसक्त होकर बँधता है। इसलिये तू युक्त हो अर्थात् उपर्युक्त निश्चय वाला हो यह अभिप्राय है। करण नाम कार है काम के करण का नाम कामकार है उसमें तृतीया विभक्ति जोड़ने से काम के कारण से अर्थात् काम की प्रेरणा से यह अर्थ हुआ। (शां.भा)

इस भाष्य में भाष्यकार ने साधनों का क्रम इस प्रकार से कहा है सत्वशुद्धि, ज्ञान प्राप्ति, सर्व कर्म सन्यास तथा ज्ञाननिष्ठा। अर्थात् कर्मयोग के द्वारा सत्वशुद्धि उसके बाद परोक्षज्ञान की प्राप्ति उसके बाद काम्यनिषिद्ध नित्य नैमित्तिक रूप जो कर्म है उनका विधिवत् त्याग करना इस प्रकार से सर्वकर्म सन्यास होता है। वहाँ पर अपरोक्ष ज्ञान निष्ठा होती है जिससे विदेहकैवल्यात्म का मोक्ष प्राप्त होता है। जो कर्म योग नहीं करता है। तथा फल की आशा से कर्म करता है वह कर्मबद्ध हो जाता है। तथा संसार चक्र को प्राप्त करता है। इसलिए कर्मयोग का फल भी कहा गया है। और काम्य कर्म का भी फल इस श्लोक में कहा गया है।

इस चित्र के माध्यम से साधनों के सोपानों को दिखाया जा रहा है।

पहले स्तम्भ में साधन हैं तथा दूसरे स्तम्भ में उनके फल है।

जन्तुओं के मोह का कारण क्या है

अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः॥ (गीता 5.15)

अज्ञान के द्वारा विवेकियों का ज्ञान आवृत्त है जिससे जन्तु मोहित होते हैं। करता हूँ, करवाता हूँ, भजता हूँ, भजवाता हूँ, इस प्रकार के मोह को संसारी प्राप्त हो जाते हैं।

अज्ञान के आवरण का नाश किस उपाय के द्वारा होता है

ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम्॥ (गीता 5.16)

जिन जीवों के अन्तःकरण का वह अज्ञान जिस अज्ञान से आच्छादित हुए जीव मोहित होते हैं आत्म विषयक विवेक ज्ञान द्वारा नष्ट हो जाता है उनका वह ज्ञान सूर्य की भाँति उस परम परमार्थ तत्त्व को प्रकाशित कर देता है। अर्थात् जैसे सूर्य समस्त रूप मात्र को प्रकाशित कर देता है वैसे ही उनका ज्ञान समस्त ज्ञेय वस्तु को प्रकाशित कर देता है।

यहाँ पर यह स्पष्ट किया गया है कि अज्ञान का नाश कर्म के द्वारा नहीं होता हैं अपितु ज्ञान के द्वारा ही होता है।

'तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' (श्वे. उ. 3.8)

इस प्रकार से विद्या के अन्य मार्ग मोक्ष के लिए नहीं हैं इस प्रकार से यह श्रुति इन पन्थों का निराकरण करती है।

ज्ञान का आवरण क्या होता है। तथा अज्ञान का आवरण क्या होता है।

ज्ञान का आवरण कर्म तो होने योग्य नहीं है क्योंकि कर्म द्रव्य नहीं होता है। आवरण केवल द्रव्य ही हो सकता है। द्रव्यकार्य आवरण कहलाता है। अज्ञान भाव रूप में होता है। न की अभाव रूप में इसलिए ज्ञान अज्ञान के द्वारा ही आवृत्त होता है।

किस प्रकार का ज्ञान अज्ञान का नाशक होता है?

आत्माज्ञानस्वरूप, चित्स्वरूप तथा चैतन्यस्वरूप होता है।

ध्यान दें:

ज्ञान तथा अविद्या में विरोध तो सुप्रसिद्ध है तो किस प्रकार से अविद्या ज्ञानत्मक आत्मा का आवरण करती है। तब कहते हैं की अविद्या आत्मा की विरोधी नहीं है। अर्थात् ज्ञान रूप आत्मा अविद्या की विरोधी नहीं होती है। अविद्या की विरोधी तो विद्या होती है। उपरोक्त श्लोक में विद्या ही ज्ञान शब्द के द्वारा कही गयी है, यहाँ पर 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इत्यादि श्रुतियों में उक्त ज्ञान नहीं कहा है। विद्या ही बुद्धिरूपी वृत्ति है न की प्रकाश रूप। इसलिए वहाँ पर 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इसमें ज्ञान शब्द का प्रकाश अर्थ है। यह ज्ञान प्रकाश तथा प्रकाशक दोनों ही होता है। इसलिए श्रुतियों में कहा है की उसकी प्रभा से यह सब प्रकाशित होता है। इस प्रकार से यह बुद्धिवृत्ति विद्या आत्मा की आवरक अविद्या का नाश करती है। उससे आत्मप्रकाश उत्पन्न होता है। इसलिए ब्रह्म वस्तु प्रकाशकत्व विद्या का ही कहा जाता है। इस प्रकार से चैतन्यभासित बुद्धिवृत्ती है ज्ञान तथा करण के द्वारा आत्मा के आवरक अज्ञान का नाश करते आत्मा को प्रकाश मान बनाती है। बुद्धि वृत्ति रूप ज्ञान प्रकाशक नहीं होता है। लेकिन प्रकाशकरणात्म ही होता है। प्रकाशात्मज्ञान तो चैतन्य ही होता है।

क्या कारण है जिसके द्वारा जन्तु जन्ममृत्युरूपी संसार का अतिक्रमण करता है।

तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः॥ (गीता 5.17)

सरलार्थ जो प्रकाशित हुआ परमज्ञान है उस परमार्थ तत्त्व में जिनकी बुद्धि जा पहुँची है वे तद्बुद्धि हैं वह परब्रह्म ही जिनका आत्मा है वे तदात्मा हैं उस ब्रह्म में ही जिनकी निष्ठा दृढ़ आत्म भावना तत्परता है अर्थात् जो सब कर्मों का संन्यास करके ब्रह्म में ही स्थित हो गये हैं वे तन्निष्ठ हैं। वह परब्रह्म ही जिनका परम अयन आश्रय परमगति है अर्थात् जो केवल आत्मामें ही रत हैं वे तत्परायण हैं (इस प्रकार) जिनके अन्तःकरण का अज्ञान ज्ञान द्वारा नष्ट हो गया है एवं उपर्युक्त ज्ञान द्वारा संसार के कारण रूप पापादि दोष जिनके नष्ट हो चुके हैं ऐसे ज्ञान निर्धूतकल्मष संन्यासी अपुनरावृत्ति को अर्थात् जिस अवस्था को प्राप्त कर लेने पर फिर देह से सम्बन्ध होना छूट जाता है ऐसी अवस्था को प्राप्त होते हैं।

इसलिए यहाँ पर यह स्पष्ट होता है कि तद्बुद्धि (परोक्ष ब्रह्म ज्ञान शब्द ज्ञान, जैसे गुड़ मीठा होता है यह स्वयं अनुभव नहीं किया अपितु किसी से सुना है, इस प्रकार से वह गुड के माधुर्य को परोक्ष रूप से जानता है।) तदात्मा (ब्रह्मात्मा परोक्ष ज्ञान) तन्निष्ठः (नैरन्तर्येण तत्वस्वरूपानुसन्धानम्) तत्परायण (उसमें रति) ज्ञाननिर्धूत कल्मष अर्थात् वह फिर देह को प्राप्त नहीं करता है अपितु मुक्त हो जाता है।

संन्यास के दो प्रकार

विविदिष संन्यास तथा विद्वत संन्यास के भेद से संन्यास दो प्रकार का होता है।

विद्वत्संन्यास मोक्ष का हेतु होता है। विद्वत् संन्यास में सभी कर्मों का त्याग कर दिया जाता है। विद्वत् संन्यासी परमहंस भी कहलाता है। ज्ञानसहित यह संन्यास होता है। उसका कर्ता आत्मवान कहलाता है।

विविदिषा संन्यास जो करता है वह विविदिषु कहलाता है। और वह कुटीचकादि होता है। विविदिषा संन्यास में कर्म के एकदेश का त्याग होता है, अपरदेश का अनुवर्तन हो जाता है। और वह कर्मयोग की परिसमाप्ति के पहले से ही संन्यास हो जाता है।इसलिए उसके द्वारा कर्मयोग अनुवर्तनीय होता है। यह संन्यास ज्ञानरहित होता है। उसका कर्म आत्मवान कहलाता है।

काम्यकर्मों का त्याग मुमुक्षुओं के द्वारा करना चाहिए।
न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः। (कैवल्योपनिषत् 1.2)

ध्यान दें:

कर्म के द्वारा, प्रजा के द्वारा तथा धन के द्वारा अमृतत्व प्राप्त होता है। क्या एक ही ज्ञानी के त्याग के द्वारा अमृतत्व प्राप्त होता है। अमृतत्व के लिए त्याग ही एक साधन होता है। इस प्रकार से धैर्य के द्वारा यह मन्त्र प्रतिपादित होता है। वैदिक सम्प्रदाय में यह मन्त्र यदि वन्दन मन्त्र के रूप में सुप्रसिद्ध तथा जनप्रिय है। जपपूजापारायणहोमदानध्यान आदि के फलोद्देश से क्रियमाण कर्म होते हैं। इन कर्मों से इष्टफल प्राप्त होते हैं। कर्म से केवल अभ्युदय फल ही प्राप्त होते हैं। न कि मुक्ति। सत्पुत्रों से गृहस्थी लोग अमृतत्व प्राप्त नहीं होता है। धन के द्वारा ही वर्तमान समय में सबकुछ सम्पादित होता है। फिर भी स्वत: सिद्ध स्वाभाविक मोक्ष धन के द्वारा भी प्राप्त नहीं होता है। तो मोक्ष का साधन क्या है। तब कहते हैं की त्याग ही एक साधन है। तथा त्याग से अध्यास के त्याग का ग्रहण किया गया है। अहंता ममता का त्याग तथा आत्मज्ञान के द्वारा अनात्मवस्तु का त्याग होता है। वास्तविक रूप से अविद्या की हानि ही त्याग कहलाता है। त्याग से ही मुक्ति की प्राप्ति होती है। इस मन्त्र को जानते हुए बहुत लोग वेदविहित सभी कर्मों को त्याग देते हैं लेकिन वह उचित नहीं होता है। जिसके द्वारा नित्यादिकर्मों उपासना तथा विवेक साधनाएँ की जाती है उसके द्वारा ही नित्यादि कर्म भी आगे त्यागे जाते हैं। इसलिए कर्मों के त्याग का भी कोई क्रम होता है। उस क्रम को जाने बिना ही जो असम्यक् रूप से कर्मों का त्याग कर देता है वह मोक्ष प्राप्त नहीं होता है। जिस प्रकार से जो बारहवीं कक्षा की परीक्षा को लिखकर के उत्तीर्ण होता है वह ही बारहवीं पास कहलाता है। लेकिन पहली कक्षा में पढ़ता हुआ छात्र बारहवीं कक्षा के योग्य नहीं होता है। तथा उसके द्वारा यह भी नहीं सोचना चाहिए की बारहवीं कक्षा में अध्ययन के द्वारा ही बारहवीं कक्षा पास होती है तो पहले कक्षा में अध्ययन की कोई आवश्यक्ता ही नहीं है। सोपानादिक्रमों का तथा भ्रमादि क्रमों का त्याग नहीं करना चाहिए।

इसलिए महाभारत में कहा गया है

कर्मणा बध्यते जन्तुर्विद्यया च विमुच्यते।
तस्मात्कर्म न कुर्वन्ति यतय: पारदर्शिन:॥ (मो. ध. 241.7)
त्यज धर्ममधर्म च उभे सत्यानृते त्यज।
उभे सत्यानृते त्यक्त्वा येन त्यजसि तत्त्यज॥ (मो.ध. 329. 40)

पाठगत प्रश्न 22.1

1. ब्रह्मजिज्ञासा कब करनी चाहिए?
2. धर्मजिज्ञासा के पहले भी ब्रह्मजिज्ञासा सम्भव होती है अथवा नहीं?
3. किन कर्मों का त्याग सर्व कर्म संन्यास कहलाता है?
4. जो फलाशय कर्म करता है उसकी क्या गति होती है?
5. किस प्रकार का ज्ञान अज्ञान का नाशक होता है?
6. ज्ञान का आवरण क्या होता है?
7. अज्ञानावरण के नाश का क्या कारण है?

   (क) ब्रह्मज्ञानम् (ख) उपासना

   (ग) नित्यादिकर्माणि (घ) काम्यादिकर्माणि
8. जन्तु के संसार चक्र में अतिक्रमण करने का लक्षण क्या है?
9. संन्यास के भेद को लिखिए। कौन किस प्रकार के कर्म का त्याग करता है?
10. यदि सभी कर्मों के त्याग से ही मोक्ष होता है तो नित्यादि कर्म क्यों करना चाहिए?

ध्यान दें:

22.1.1) कर्म भेद:

काम्य, निषिद्ध, नित्य, नैमित्तिक, तथा प्रायश्चित इस प्रकार से पाँच प्रकार के कर्म कहे जाते हैं।

1. जिन कर्मों के माध्यम से स्वर्गादि सुखात्म तथा सुखजनक इष्ट फल प्राप्त होता है वे काम्य कर्म कहे जाते हैं।
2. जिन कर्मों का नरकादि अनिष्ट ही फल होता है वे शास्त्र के द्वारा प्रतिषिद्ध कर्म निषिद्ध कर्म कहलाते है।
3. ब्राह्मणादि वर्ण ब्रह्मचर्यादि आश्रमों का उद्देश्य करने नित्यकर्तव्यता के द्वारा जिन शास्त्रविहित कर्मों को करते हैं वे कर्म नित्य कर्म कहलाते हैं।
4. पुत्रजन्मादिरूप कुछ भी विशिष्ट निमित्त का आश्रय लेकर के जो कर्म करने होते है वे नैमित्तिक होते हैं।
5. प्रकृत जन्म में प्रमादादि वश निषिद्ध करने पर तथ नित्य कर्म नहीं करने पर उनसे उत्पन्न दोष के क्षय के लिए कर्म करना चाहिए वह प्रायश्चित कर्म कहलाता है।

इनमें काम्य तथा निषिद्ध कर्म को छोड़कर के अन्य तीन प्रकार के कर्म अधिकार लाभ करने पर ही करने होते हैं। इनके नित्य नैमित्तिक प्रायश्चित तथा शास्त्र प्रसिद्ध कर्मों का गुरुजनों के द्वारा कर्तव्यता के द्वारा उपदिष्ट कर्मका मोक्ष साधन के रूप में अनुष्ठान ही वेदान्त शास्त्र में कर्मयोग के नाश से कहा गया है। कर्मयोग के द्वारा चित्त के मल का नाश होता है। और उससे चित्त शुद्ध होता है। निषिद्ध किसी के द्वारा भी नहीं करना चाहिए। फिर भी जो काम्य कर्म वर्णाश्रम कर्म रूप के द्वारा प्राप्त होते हैं तो वे यदि निष्काम भावना के द्वारा किये जाते हैं। तो वे भी चित्त की शुद्धि में कारण होते हैं। इसलिए ही भगवान ने गीता में अर्जुन को वर्णाश्रम धर्म प्राप्त युद्ध करने का उपदेश दिया। नहीं तो युद्ध त्याग का उपदेश देते नित्यादि केवल कर्म के कारण।

22.1.2) चित्तमल

चित्त का मल क्या होता है। किस प्रकार से चित्त मलिन होता है। चित्त में मल है अथवा नहीं इसको किस प्रकार से जान जा सकता है। चित्तमल की शुद्धि किस प्रकार से करनी चाहिए। चित्त की शुद्धि हुई अथवा नहीं हुई इसको कैसे जाना जा सकता है। चित्त की शुद्धि होने पर उसके बाद क्या करना चाहिए।

चित्त का मल पाप होता है। निषिद्ध कर्मों के आचरण से पाप उत्पन्न होता है। निषिद्धकर्मों के आचरण की वासना से चित्त मलिन होता है। निष्काम कर्म के द्वारा चित्त की शुद्धि करनी चाहिए। काम क्रोधादि की लघुता से शुद्धि की मात्रा का अनुमान लगाना चाहिए।

चित्त के शुद्ध होने के बाद उपासान करनी चाहिए। विवेकादि साधनचतुष्टय करना चाहिए। उसके लिए गुरु की शरण ग्रहण करके श्रवणादिक करना चाहिए।

गुणों का चित्त में प्रभाव

ब्रह्मविद्या के द्वारा अविद्यामान संसार की निवृत्ति नित्यनिरतिशयानन्द की प्राप्तिरूप महान प्रयोजन की सिद्धि होती है। लेकिन सभी जीवों के द्वारा स्वरूप प्रतिपादक महावाक्यों के बार-बार सुनने पर भी उनके अन्दर ब्रह्म विद्या का उदय नहीं होता है। यहाँ पर क्या कारण है। तो कहते हैं की कारणों में सबसे

ध्यान दें:

अन्यतम कारण है अन्त:करण की मालिन्य। सत्वरजतमोगुणमय अज्ञान से सत्त्वगुण के प्राधान्य के द्वारा अन्त: करण उत्पन्न होता है। इसलिए ही अन्त: करण त्रिगुणात्मक होता है। तीनों गुणों में सत्वगुण प्रकाशक होता है। रजोगुण कामक्रोधरागद्वेषादि का उत्पादक होता है। तमोगुण प्रमाद आलस्य निद्रामोहादि का जनक होता है। रज के तथा तम के क्षीण होने पर सत्त्वगुण के आधिक्य से अन्त:करण में सभी ज्ञेय प्रकाशक हो जाता है। रजोगुण के द्वारा तथा तमोगुण के द्वारा अभिभूत अन्त:करण दृष्ट स्पृष्ट श्रुत अघ्रात तथा रसित विषय के वास्तविक स्वरूप को प्रकाशित नहीं कर सकता है। वह इस प्रकार से है जैस चुम्बक में लोहे की आकर्षण शक्ति होती है। लेकिन वह यदि धूली आदि मालिन्य से युक्त होता है तो लोहे का आकर्षण करने में असमर्थ होता है। इसी प्रकार से अन्त: करण भी प्रकाशशील सत्त्वगुण के द्वारा शुद्ध स्वभाव वाला होता हुआ भी रज, तम आदि के योग से अशुद्ध हो जाता है। इसलिए ब्रह्मज्ञान का प्रतिबन्ध होता है। उस ब्रह्म ज्ञान के लिए सर्वप्रथम अन्त: करण की शुद्धि यत्नपूर्वक करना चाहिए। अन्त: करण में विद्यमान सत्त्वगुण से रजोगुण को तथा तमोगुण को दूर करना चाहिए। इसलिए ही अन्त: करण की शुद्धि सत्त्वशुद्धि इस प्रकार से कही गयी है। जिसकी सत्त्वशुद्धि होती है। उसके ही साधनचतुष्टय सिद्ध होते है। साध नचतुष्टय सम्पन्न ही ब्रह्मबोधक वेदान्तवाक्यों को सुनकर के ब्रह्मविद्या को प्राप्त करता है।

कर्म भेद, उनका प्रभाव, साधनों की उपयोगिता। इस विषय में शास्त्रों के प्रमाणों को नीचे उपस्थापित किया जा रहा है।

न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते।
न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति॥ (गीता 3.4)।

यज्ञादि कर्मों के अनारम्भ से, बिना अनुष्ठन किए कोई भी पुरुष नैष्कर्म्य निष्कर्मभाव को प्राप्त करता है तथा न केलव संन्यास के द्वारा ही अर्थात् केवल कर्मपरित्यग मात्र से ज्ञानरहित नैष्कर्म्य सिद्ध को प्राप्त करता है।

सबसे पहले उन कर्मों को करना चाहिए जो चित्त की शुद्धि करते हैं। उनको किए बिना संन्यास फलवान नहीं होता है। संन्यास का फल तो नैष्कर्म्य होता है। निष्क्रियात्मस्वरूप के द्वारा अवस्थान इस प्रकार से कर्म करना ही कर्मयोग कहलाता है। कर्मयोग का अच्छी प्रकार से अनुष्ठान कर लेन पर ही मुमुक्षु ज्ञानयोग की कल्पना करते हैं। इसलिए कर्मयोग ज्ञानयोग का उपायभूत होता है। यज्ञादि कर्म पापों का नाश करते हैं यदि वे फलों के आशा को त्याग करके किए गए होते हैं तो। पाप ही मल होता है। उस का नाश ही सत्व की शुद्धि होती है। इस प्रकार से भाष्य की भी इसमें सम्मति है

क्रियाणां यज्ञादीनाम् इह जन्मनि जन्मान्तरे वा अनुष्ठितानाम् उपात्तदुरितक्षयहेतुत्वेन सत्त्वशुद्धिकारणानां तत्कारणत्वेन च ज्ञानोत्पत्तिद्वारेण ज्ञाननिष्ठाहेतूनाम् (गीता.भा.3.4)

ज्ञानमुत्पद्यते पुंसां क्षयात् पापस्य कर्मण:।
यथादर्शतलप्रख्ये पश्यत्यात्मानमात्मनि (महा. शान्ति. 204.8)

पापकर्म के क्षय होने से अर्थात् निषिद्धकर्मों के आचरण से उत्पन्न अधर्माख्य संस्कार का यदि क्षय होता है तब ही ज्ञान उत्पन्न होता है। जब ज्ञान उत्पन्न होता है। तब आत्मा, आत्मा में देखती है। ध र्म के द्वारा पाप दूर होते हैं।

नित्यकर्मपाप नाशक होते हैं इस विषय में गीता की सम्मति है।

यज्ञदानतप:कर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्।
यज्ञो दानं तपश्चौव पावनानि मनीषिणाम्॥ (गीता.18.5)

यज्ञ दान तथा तप इस प्रकार से ये तीनों तपों का त्याग नहीं करना चाहिए अर्थात् यह कार्य हमेशा करना चाहिए। क्योंकि यज्ञ दान तथा तप मनीषियों को पावन करते हैं।

ध्यान दें:

यह भगवान् वासुदेव का निश्चय है।यहाँ पर कहे गये यज्ञादि काम्य कर्म नहीं हैं।

चित्तशुद्धि ही आत्मशुद्धि कहलाती है। चित्तशुद्धि के बिना संन्यास विफल हो जाता है। इसलिए इसके ही विषय में भगवद्गीता में बाहुल्य से उल्लेख परिलक्षित होता है।

कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये। (गीता 5.11)

काया के द्वारा, मन के द्वारा तथा बुद्धि के द्वारा ममत्ववर्जित केवल ईश्वर के लिए ही कर्म करता हूँ न की स्वयं के फल के लिए। इसप्रकार से ममत्वबुद्धिशून्य इन्द्रियों के द्वारा भी योगीकर्मी कर्म करता है तथा संग को त्यागकर और फल विषयों में सभी जगह ममता को त्याग करके आत्मशुद्धि के लिए अथवा सत्वशुद्धि के लिए कर्म करता है।

दुरितक्षयहेतूनि नित्यानि ब्राह्मणो ययुः।
काम्यानि चेह कर्माणि दृष्टादृष्टफलानि तु॥ (तै.उ.भा.वार्तिकम् 4)

भगवान् भाष्यकार ने किल्बिष पाप को ही गीता के भाष्य में स्पष्ट रूप से कहा है। वह श्लोक यह है

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी विगतकल्मषः।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते॥ (गीता 6.28)

(शांकरभाष्यम्-) योग में लगा हुआ योगी क्रम से सभी पापों से मुक्त हो जाता है। वह सुख के द्वारा अनायास ही ब्रह्म से संस्पृष्ट होकर उस निरतिशय परमतत्व को प्राप्त कर लेता है और-

प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्बिषः।
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्॥ (गीता 6.45)

(शांकरभाष्यम्-)। योगित्व श्रेष्ठ किस कारण से है जो प्रयत्न पूर्वक अधिक साधन में लगा हुआ है वह विद्वान् योगी विशुद्धकिल्बिष अर्थात् अनेक जन्मों में थोड़े-थोड़े संस्कारों को एकत्रित कर उन अनेक जन्मों के सञ्चित संस्कारों से पाप रहित होकर सिद्ध अवस्था को प्राप्त हुआ सम्यक् ज्ञान को प्राप्त करके परम गति मोक्ष को प्राप्त होता है।

चित्त की शुद्धि के लिए यज्ञादि अनुष्ठेय कर्मों का उल्लेख बहुत स्थानों पर परिलक्षित होता है। वे यज्ञ कौन से हैं। उन्हें किस प्रकार से करना चाहिए। उनको करने में शास्त्र प्रमाण क्या है इस प्रकार से इस स्थान पर अनेक प्रश्न उत्पन्न होते हैं। उनके समाधान में भाष्य कार ने कहा है-

स्मृतिष्वपि भगवद्गीताद्यासु अनभिसन्धाय फलम् अनुष्ठितानि यज्ञादीनि मुमुक्षोः ज्ञानसाधनानि भवन्तीति प्रपञ्चितम। तस्माद् यज्ञादीनि शमदमादीनि च यथाश्रमं सर्वाण्येव आश्रमकर्माणि विद्योत्पत्तौ अपेक्षितव्यानि। तत्रापि 'एवंवित्' इति विद्यासंयोगात् प्रत्यासन्नानि विद्यासाधनानि शमादीनि, विविदिषासंयोगात्तु बाह्यतराणि यज्ञादीनीति विवेक्तव्यम्
(ब्र.सू.भा.3.4.27)

मुमुक्षु साधनत्व के रूप में यज्ञादिक करता है यहाँ पर यह गीता की सम्मति है।

तदित्यनभिसन्धाय फलं यज्ञतपःक्रियाः।
दानक्रियाश्च विविधाः क्रियन्ते मोक्षकाङ्क्षिभिः॥ (गीता 17.25)

तत् ऐसे इस ब्रह्म के नाम का उच्चारण करके और कर्मों के फल को न चाहकर नाना प्रकार की यज्ञ और तप रूप तथा दान अर्थात् भूमि? सोना आदि का दान करना रूप क्रियाएँ मोक्ष को चाहने वाले मुमुक्षु पुरुषों द्वारा की जाती हैं।

ध्यान दें:

सभी के अन्त: करण में मल विक्षेप तथा आवरण इस प्रकार से ये दोष होते हैं। मल पाप होता है। वह अतिसूक्ष्म होने के कारण प्रत्यक्ष नहीं होता है। लेकिन उसका अनुमान किया जाता है। उसी प्रकार से चित्त मलिन होता है। निषिद्धकर्मानुष्ठान से विषयासक्ति के कारण चित्त में अशुभ भावनाएँ भर जाती हैं अर्थात् चित्त मलिन हो जाता है। उसका हेतु निषिद्ध कर्मों का अनुष्ठान होता है तथा दूसरा हेतु विषयासक्ति है। और तीसरा हेतु चित्तगत अशुभ भावनाएँ हैं। अर्थात् जो वेदादिश्रुतिस्मृतियों के द्वारा निषिद्ध कर्म है उसको यदि वह करता है तो वह पापी कहलाता है। तथा उसके चित्त में मल आ जाता है।

जो विषयों में आसक्त होता है। उसकी आसक्ति के कारण ही चित्त में मल स्थित होता है। इसलिए कारण से ही कार्य होता है। आसक्ति से पार रूपी मल सभी के द्वारा जाना जाता है ।

जिसके चित्त में अशुभ भावनाएँ होती है उसका चित्त मलिन होता है इसमें सन्देह का अवकाश बिल्कुल भी नहीं है।

यह हेतु त्रय जिस पुरुष के होते हैं। वह मलिन होता है। मल की निवृत्ति के लिए निष्कामकर्मभूत यज्ञादि के द्वारा मल का निवारण करना चाहिए। इस प्रकार से ईश्वरनामोच्चारण के द्वारा मल का तथा विक्षेप का निवारण करना चाहिए।

विक्षेप चित्त का चाञ्चल्य होता है। जिसका चित्त वेदान्त के श्रवण में अथवा स्वरूपानुसन्धान में स्थिरता प्राप्त नहीं करता है अपितु विषयाभिमुखी होता है उसके द्वारा ईश्वर का नामोच्चारण अजपामन्त्रावृत्ति ईश्वरमूर्ति का ध्यान तथा निर्गुणब्रह्मानुसन्धान इत्यादि उपाय कहे गये हैं। उपासना आदि के द्वारा भी चित्त की एकाग्रता उत्पन्न होती है।

इस प्रकार से शरीर वाक् तथा मन के द्वारा धन के द्वारा तथा सेवा के द्वारा ईश्वर ही हमें अनन्तकोटिजन्मार्जितसुकृतो के परिपाक से गुरुमूर्ति के रूप में अवतीर्ण होता है। इस प्रकार के सद्गुरु की सेवा के महान लाभ बताए गये हैं।

यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यैते कथिता ह्यर्था: प्रकाशन्ते महात्मन:॥ (श्वे.उ.6.23)

पाठगत प्रश्न 22.2

1. वेदान्त में कितने कर्म होते हैं तथा वे कौन-कौन से हैं?
2. काम्य की किस प्रकार के आचरण से चित्त की शुद्धि होती है?
3. नित्यादिकर्मों को किस प्रकार अनुष्ठान करना चाहिए?
4. अन्त: करण के घटद्रव्य कौन-कौन से हैं।
5. विषयासक्ति का कारण क्या है?
6. नित्यादि कर्मो से भी अधिक नाम जप की क्या विशेषता है?

22.2) काम्य

दो प्रकार के कर्म त्याज्य होते हैं काम्य कर्म तथा निषिद्ध कर्म।

फलोद्देश्य से क्रियमाण कर्म काम्य कर्म कहलाते हैं। जिस किसी भी फल की आकाङ्क्षा करके

ध्यान दें:

जो कर्म किए जाते हैं वे काम्य कर्म कहलाते हैं। जैसे स्वर्ग की प्राप्ति के लिए क्रियमाण ज्योतिष्टोमयज्ञादि कर्म। मरणानन्तर स्वर्ग की प्राप्ति हो इस फल के लाभ के लिए ज्योतिष्टोमादियाग किए जाते हैं वे काम्य कर्म कहलाते है। काम्यकर्मों का फल अनित्य होता है। यत् कृतकं तदनित्यम् यह नियम होता है।

अर्थात् जो क्रियाजन्य साधन जन्य है वह अनित्य है। फल भोग के बाद फिर उस फल को भोगने की कोई भी इच्छा करता है तो उसे वह कर्म फिर करना चाहिए।

काम्य कर्म का त्याग किस प्रकार से करना चाहिए। काम्य कर्मों का फल स्वर्गादि होते हैं। उनका फल मरने के बाद प्राप्त होता है। काम्य कर्म मरने के बाद फल देते हैं। मरने के बाद कर्म के फलों की उत्पत्ति के लिए फिर जन्म आवश्यक होता है। वह जन्म मृत्यु लोक में हो अथवा स्वर्ग लोक में। जिन कर्मों से पुण्य उत्पन्न होता है वे पुण्यों के फलों को देकर के ही समाप्त होते हैं। फिर फल लाभ के लिए काम्य कर्मों के द्वारा पुण्यों का संचय करना चाहिए। इस प्रकार से यह चक्र प्रवर्तित होता रहता है। इस प्रकार से इसको समझकर के जो इस प्रकार के साध्य तथा साधनभूत काम्यकर्मों से विरक्त हो जाता है वह ही मुमुक्षु कहलाता है। इस प्रकार से यह स्पष्ट हो गया की जो मुमुक्षु होता है। वह साध्यसाधनप्रसूत संसारचक्र की कामना नहीं करता है तो कर्मों को वह त्याग देता है। इसलिए मुमुक्षु के द्वारा काम्य कर्मों का त्याग कर देना चाहिए।

22.3) निषिद्ध कर्म

निषिद्ध ब्राह्मणहननादि कर्म होते हैं जिनके द्वारा नरकादि की प्राप्ति होती है।

वेद के द्वारा जिन कर्मों का निषेध किया गया है वे यहाँ पर निषिद्ध कर्म कहलाते है। ये कर्म पापरूपी संस्कारो को अन्त: करण में उत्पन्न करते हैं और वे संस्कार समुचित काल में विविध दु:खों को तथा नरकादि अनिष्टों को जन्म देते हैं।

निषिद्ध जैसे पाप के द्वारा दु:ख को उत्पन्न करते हैं। तथा असम्भावना विपरीत भावना की निवृत्ति में प्रतिबन्धकत्व के रुप में कार्य करते हैं। अर्थात जिससे पाप होता है उस में असम्भावनादि दोष उत्पन्न होते हैं। इसलिए महावाक्य सुनने के बाद भी उसे जीवब्रह्म के ऐक्य का ज्ञान नहीं होता है। इसलिए पाप के नाश के लिए कर्मों का अनुष्ठान करना चाहिए।

इस जन्म में निषिद्धकर्म यदि प्रमादात् पूर्वक हो जाए तो उससे जन्य पाप उत्पन्न नहीं हो इस प्रकार से कोई चाहता है तो उसके लिए प्रायश्चित का विधान किया गया है। प्रायश्चित कर्म निषिद्धजन्य पाप के प्रतिबन्धक होते है। कर्म के द्वार ही कर्म का नाश किया जाता है। पूर्वजन्मों में किए गये निषिद्धकर्मों का भी इस जन्म में प्रारब्ध के रूप में परिणाम होता है। वह निषिद्ध अब फल देने में परिपक्व होते हैं। उनकी भी शान्ति की कामना की जाती है।

22.4) नित्य कर्म

पूर्वजन्म में किए गए निषिद्धकर्म अन्त: करण में अधर्म के रूप में पाप के अपर नाम से उत्पन्न होते हैं। यह अधर्म रूप संस्कार अगले जन्म में दु:ख को जन्म देते है। नरकादि अनिष्टों की प्राप्ति के प्रति कारण होता है। असम्भावना की अनिवृत्ति से तथा विपरीतभावना की अनिवृत्ति से वह प्रतिबन्धक हो जाता है। अर्थात् अधर्म रूप से कहे जाने वाले संस्कार होने पर वेदान्त का श्रवण करने पर भी असम्भावना की निवृत्ति नहीं होती है। तथा न ही विपरीत भावना की निवृत्ति होती है। इसलिए पूर्वजन्म में किए गए निषिद्ध के प्रारब्धत्व के द्वारा परिणित ये विविध दोष होते हैं। उनमें प्रतिबन्धकत्व से स्थित

ध्यान दें:

अधर्म का निवारण मुख्यत्वरूप से आवश्यक होता है। क्योंकि जब तक असम्भावना का निवारण नहीं होता है। तब तक विपरीत भावना का निवारण नहीं होता है। जब तक विपरीत भावना का निवारण नहीं होता है। तब तक अज्ञानावरण का नाश भी नहीं होता है। इस प्रकार से निषिद्धकर्म बहुत अनर्थों के मूल होते हैं। इस उपाय के लिए नित्यकर्मों का विधान किया गया है। इन कर्मो को करने पर तो ये निषिद्ध कर्मों के द्वारा सम्भावित दोषों का भी निवारण करनें में समर्थ होते हैं।

वो है संध्यावंदनादि नित्यकर्म इसलिए श्रुतियों में कहा है अहरह सन्ध्यामुपासीत इस प्रकार से। अनिमित्त होने पर विहित नित्य कर्म होते है।

अकरण में प्रत्ययवायसाधन के रूप में सन्ध्यवंदनादि नित्यकर्म वेदान्त सार में कहे गये हैं। वहाँ पर इसका क्या अर्थ है कुछ लोग कहते हैं कि जो लोग नित्य कर्म नहीं करते हैं तो उनको प्रत्यवाय दोष लगता है। इसलिए संन्यासी को भी नित्य कर्मों का अनुष्ठान करना चाहिए। इसी प्रकार से ज्ञान के साथ कर्म भी करना चाहिए। यह ज्ञानकर्म समुच्चय कहलाता है। इसलिए शङ्कराचार्य जी के द्वारा शाङ्करभाष्य में कहा गया है कि-

न हि अग्निकार्याद्यकरणात् संन्यासिनः प्रत्यवायः कल्पयितुं शक्यः। यथा ब्रह्मचारिणाम् असंन्यासिनामपि कर्मिणाम। न तावत् नित्यानां कर्मणाम् अभावादेव भावरूपस्य प्रत्यवायस्य उत्पत्तिः कल्पयितुं शक्या, 'कथमसतः सज्जायेत' (छा.उ. 6.2.2) इति असतः सज्जन्मासम्भवश्रुतेः। यदि विहिताकरणात् असम्भाव्यमपि प्रत्यवायं ब्रूयात् वेदः तदा अनर्थकरः वेदः अप्रमाणमित्युक्तं स्यात्। विहितस्य करणाकरणयोः दुःखमात्रफलत्वात्। तथा च कारकं शास्त्रं न ज्ञापकम् इत्यनुपपन्नार्थं कल्पितं स्यात्। न चौतदिष्टम्। तस्मात् न संन्यासिनां कर्माणि। अतो ज्ञानकर्मणोः समुच्चयानुपपत्तिः। (गी.भा. तृतीयाध्याये उपोद्घातः)

22.5) नैमित्तिक

नैमित्तिक कर्म पुत्रजन्मादि अनुबन्ध जातेष्ट्यादि होते हैं।

जिसके लिए निमित्त कर्म किए जाते हैं वह नैमित्तिक कहलाता है। किसी निमित्त की उपस्थिति में शास्त्रोपदेश के द्वारा जो कर्म करना होता है वह नैमित्तिक कर्म होता है। जैसे जातेष्ट्यादि यज्ञ। उसी प्रकार से जातेष्ट्यादि यज्ञ विधायक वाक्य है- "वैश्वानरं द्वादशकपालं निर्वपेत् पुत्रे जाते" इति। जब पुत्र उत्पन्न होता है तब बारह कपालों में पुरोडाश रखकर के वैश्वानरदेव के लिए देना चाहिए। पुत्र जन्म के निमित्त जातेष्टि नामक याग भी होता है। इसलिए वह याग के निमित्तक कर्म होता है।

22.6) प्रायश्चित्त

प्रायश्चित्त पाप क्षय साधन चान्द्रायणादि कर्म होते हैं। मनुष्य मोह से प्रमाद करता है। लोभादि के वश में होकर निषिद्ध कर्मों का आचरण करता है। विहित कर्मों के अनुष्ठान के द्वारा तथा निषिद्ध कर्मों के अनुष्ठान के द्वारा मनुष्य पाप के भागी होते हैं। और वो किए गए पाप के लिए पश्चाताप भी करते है। तथा इसी जन्म में उस पाप से मुक्ति के प्राप्त करने लिए प्रयास भी करते हैं। इस प्रकार के मनुष्यों के लिए शास्त्रों में प्रायश्चित कर्मों का विधान किया गया है। प्रायश्चित शब्द का अर्थ है "प्रायः तुष्टं चित्तं यत्र तत् प्रायश्चित्तम्" जिसके द्वारा चित्त संतुष्ट हो जाए वह प्रायश्चित्त कहलाता है। यहाँ पर प्राय शब्द का प्रकृष्ट अर्थ लोहे के समान कठोर तप है। अर्थात् जिस व्रत के अनुष्ठान में कठोरता के द्वारा तथा तप से चित्त तुष्ट होता है। वह प्रायश्चित होता है। जिसके द्वारा पापों का क्षय होता है। चान्द्रायण भी एक प्रायश्चित है। चान्द्रायण के विषय में मनुमुनि ने कहा है-

ध्यान दें:

एकेकं ह्रासयेत् पिण्डं कृष्णे शुक्ले च वर्धयेत्।
उपस्पृशन् त्रिषवणमेतच्चान्द्रायणं स्मृतम्॥ (मनुस्मृतिः 11.216)

प्रत्येक दिन प्रातः, मध्यान्ह तथा शाम के समय स्नान करना चाहिए पूर्णिमा में पन्द्रह मुट्ठी भोजन करके कृष्णपक्ष की प्रतिपदा तिथि से एक एक मुट्ठी भोजन कम करते जाना चाहिए। उसके बाद अमावस्या को उपवास करना चाहिए। उसके बाद में फिर शुक्लपक्ष की प्रतिपदा तिथि में भोजन का आरम्भ करना चाहिए तथा प्रत्येक दिन एकमुट्ठी भोजन बढाना चाहिए इस प्रकार से फिर पूर्णिमा के दिन पन्द्रमुट्ठी भोजन करना चाहिए। इस प्रकार से एक मास पर्यन्त करना चाहिए। इस प्रायश्चित कर्म का नाम चान्द्रायण है। इस प्रकार से अन्य भी प्रायश्चित होते है।

नित्यादि कर्मों का फल

किसी भी कर्म का आवश्यक तथा मुख्यभेद से दो ही फल होते हैं। कदाचित् जो आवश्यक होता है वह ही मुख्य कर्म होने योग्य होता है।इन नित्यनैमित्तिकप्राश्चित्तों का बुद्धिशुद्धि रूपी परम अर्थात् आवश्यक प्रयोजन होता है।

मुख्य प्रयोजन तो विविदिषा आदि होते है। इसलिए श्रुतियों में कहा हैं

तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन इति। स्मृतिरपि- तपसा कल्मषं हन्ति इति।

इन नित्यनैमित्तिक तथा प्रायश्चितसोपानों का अवान्तर फल अर्थात् गौंण फल पितृलोक प्राप्ति तथा सत्यलोक प्राप्ति होता है। वहाँ पर यह प्रमाण है। **"कर्मणा पितृलोकः विद्यया देवलोकः"** इस प्रकार से श्रुतियों में कहा है।

इन नित्य नैमित्तिक प्रायश्चित तथा उपासनाओं के द्वारा परिशुद्ध मन साधन चतुष्टय सम्पादन में समर्थ होता है। इसलिए नित्यादि कर्मों के द्वारा जिस पुरुष का चित्त निर्मल होता है। वह साधचतुष्टय को सम्पादन में स्वयं को नियोजित करता है।

इस प्रकार से इन कर्मों के अनुष्ठान के द्वारा बुद्धि शुद्ध तथा निर्मल होती है। इसलिए ही इनका आचरण करना चाहिए।

पाठगत प्रश्न 22.3

1. काम्य कर्मों को त्यागने में क्या हेतु है?
2. कौन-कौन से कर्म निषिद्ध कर्म होते हैं?
3. कौन-कौन से कर्म नित्य कर्म होते हैं?
4. कौन-से कर्म नैमित्तिक कर्म होते हैं?
5. प्रायश्चित कर्म कौन-से होते हैं?
6. नित्यादि कर्मों का परम प्रयोजन क्या है?
7. नित्यादि कर्मों का अवान्तर फल क्या है?

ध्यान दें:

22.1) उपासना

उपासना दो प्रकार की होती है। सगुण ब्रह्म विषय तथा निर्गुण ब्रह्मविषया इस प्रकार से सगुण ब्रह्म विषय उपासना में ब्रह्म विद्या के बहिरङ्ग साधनों को गिना जाता है। अथवा परम्परा वाले साधनों को गिना जाता है। निर्गुण ब्रह्मोपासना में तो निदिध्यासन ही होता है। वह अन्तरङ्गसाधन के अन्तर्गत होती है। श्रवण, मनन, निदिध्यासन, ब्रह्मविद्या की उत्पत्ति के प्रति अन्तरङ्ग साधन होते हैं। मन की एकाग्रता के लिए उपदिष्ट उपासना सगुणब्रह्मविषयक होती है।उसी प्रकार से वेदान्त सार में कहा गया है

"उपासनानि सगुणब्रह्मविषयमानसव्यापाररूपाणि शाण्डिल्यविद्यादीनि"। (वेदान्तसारः)

जो पुरुष नित्यादि कर्मों को करता है। उसका मन निर्मल हो जाता है। निर्मल मन की एकाग्रता सम्पादन के लिए उपासना करना चाहिए। उप अर्थात् समीप में तथा आस्यते अर्थात् रुकता है वह उपासना होती है।अर्थात् उपासक का चित्त हमेशा उपास्य में ही लग्न होता है। उपासना विद्यारूपी होती है। यहाँ पर विद्या शब्द का अर्थ है कि जिसके द्वारा चित्त उपसास्य में स्थित होता है। वह विद्या कहलाती है। उस विद्या का शाण्डिल्यादि महर्षियों के द्वार उपदेश किया गया है।

सगुण ब्रह्मविषयक दो उपासनाएँ मुख्यरूप से उपनिषदों में सुनी जाती है। अहंकारोपासना तथा प्रतिकोपासना। इन दोनों प्रकार की उपासनाओं के भी अपने फल होते हैं। उन फलों में कामनाओं का परित्याग करके चित्त की शुद्धि के लिए उपासनओं को कर सकते हैं।

यहाँ पर यह भी प्रश्न उत्पन्न होता है कि उपासना के द्वारा साक्षात् निर्विशेष ब्रह्म का साक्षात्कार होता है अथवा परम्परा के द्वारा। यदि उपसना ही साक्षात् ब्रह्मसाक्षात्कार के प्रति कारण है तो फिर श्रवणादि व्यर्थ ही होते हैं। वहाँ पर कहा गया है की उपासना परम्परा के द्वारा ही निर्विशेषब्रह्मसाक्षात्कार के प्रति निमित्त होता है। किसी एक ही जन्म में उपासनाओं को समाप्त करके श्रवणादि के द्वारा मोक्ष नहीं मिलता है। वह दुर्वासना वासित अन्तःकरण वैराग्यादि भावों के कारण श्रवणादि से हीन होता है। इसलिए केवल सगुण की ही उपासना करनी चाहिए। उस उपासना के द्वारा चित्त को सम्पादित करके वह अर्चिरादि क्रम से ब्रह्मलोक को जाता है। वहाँ पर ही श्रवणादि के द्वारा ब्रह्मानुभव को प्राप्त करके वह अमृतत्व को प्राप्त करता है। इस प्रकार से श्रवणादियों व्यर्थ तत्त्व नहीं होता है। सगुणोपासना की परम्परा से ही ब्रह्मानुभव हेतुत्व होता है। इसको कल्पतरु में इस प्रकार से प्रतिपादित किया है-

निर्विशेषं परं ब्रह्म साक्षात्कर्तुमनीश्वराः।
ये मन्दास्तेऽनुकम्प्यन्ते सविशेषनिरूपणैः॥
वशीकृते मनस्येषां सगुणब्रह्मशीलनात्।
तदेवाविर्भवेत् साक्षादपेतोपाधिकल्पनम्॥ (कल्पतरुः 1.1.7.20)

जो मन्द दुर्वासना वासित अन्तः करण वाले होते हैं वे वैराग्य के अभाव से श्रवणादिसाधनों से हीन होने पर निर्विशेष पर ब्रह्म का साक्षात्कार करने में अक्षम होते है। फिर वे सविशेष निरुपण सगुणब्रह्म की उपासना करके उनकी अनुकम्पा प्राप्त करते हैं। सगुणोपसाना रूपी फल से सगुण ब्रह्म की उपासना से प्राप्त होता है। सगुणब्रह्म की उपासना के अभ्यास से मन उसी ब्रह्म में एकाग्र होने पर वह उसमें उपाधि कल्पना करने पर वह निरुपाधिक ब्रह्म भी सोपाधिक होकर प्रकट हो जाता है।

अन्तः करण की शुद्धि के द्वारा ब्रह्मविद्या की उपायभूत और भी दो उपासनाएँ कही गयी हैं। वे है ध्यान, योग तथा भक्ति योग। ध्यान तथा भक्ति मन से की जाती है। इसलिए ध्यानयोग का तथा भक्तियोग का मानस व्यापार रूप में उपासना के अन्तर्भाव होता है। ध्यान के द्वारा चित्त विक्षेपों के क्षय से चित्त की एकाग्रता होती है। जब भक्ति का विषय सगुण ब्रह्म होता है। तब वह उपासना में अन्तर्भाव्य

पाठ-22

साधना-2

ध्यान दें:

होता है। जब उपास्य निर्गुण ब्रह्म होता है। तब निदिध्यासन पद वाच्य होता है। सगुणभक्ति योग का यह वैशिष्ट्य हैं कि इसमें हम उस ब्रह्म के साथ पुत्रत्व, मित्रत्व दासत्व आदि लौकिक सम्बन्धों की कल्पना कर लेते हैं। वह सम्बन्ध जब दृढता को प्राप्त हो जाता है तब चित्त ईश्वर के चिन्तन में लग्न हो जाता है। सगुण ब्रह्म में भक्ति का किस प्रकार से अभ्यास करना चाहिए यह जिज्ञासा उत्पन्न होती है। नौ सोपानों के द्वारा समन्वित कोई भक्तिमार्ग भक्तों के लिए भागवतमहापुराण में निरूपित किया गया है। यह भक्ति मार्ग नौ प्रकार का होता है। वह इस प्रकार से

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणम् पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥ (भागवतमहापुराणम् 7.5.23)

श्रवणम् सर्वव्यापी विष्णु ईश्वर के नाम तथा महात्म्यों का श्रवण।

कीर्तनम् भगवान के गुणों तथा नामों का सङ्कीर्तन तथा गान।

स्मरण भगवान के विषय में ही हमेशा स्मरण।

अर्चनम् भगवान की पूजा।

वन्दनम् नमस्क्रिया।

दास्यम् भगवान के दास रूप में आचरण।

सख्यम् भगवान के साथ सौहार्द

आत्मनिवेदनम् भगवान में आत्मसमर्पण।

कर्मयोग के अनन्तर ही उपासना से अनुष्ठान में क्या हेतु है।

चित्त का मल ही धर्म तथा अधर्म होता है। वहा अधर्म को किस प्रकार से जान जाता है। निषिद्धाचरण के प्रति आकर्षण होने से अधर्म की सत्ता अन्तःकरण में बढ़ने लगती है। अन्तः करण में जितने निषिद्धकर्मजनित पाप होते हैं वे पाप निषिद्धकर्मो की और प्रेरित करते हैं। इसलिए मन विषयों में आकृष्ट होने लगता है। यह निषिद्ध कर्म प्रेरणा भी आगे पाप को जन्म देती है जिसके कारण मन में विक्षेप होने लगता है। इसलिए जबतक चित्त में विक्षेप का कारण उपस्थित रहता है तब तक उपासना अर्थात् एकाग्रता का प्रयास कष्टकारी होता है। इस प्रकार से जब चित्त की शुद्धि होती है। तब आकर्षण का कारण लघुता को प्राप्त कर लेता है। उसके द्वारा उपासना का साफल्य प्राप्त होने लगता है। इसका गीता के छठे अध्याय में प्रमाण दिया गया है। वहाँ पर भगवान श्रीकृष्ण ने जो कहा है उसका सारांश यह पर शांकरभाष्य के साथ उपस्थापित किया जा रहा है।

ध्यान योग का कर्म बहिरङ्ग होता है। उस कर्म में अनाश्रित होकर के वह कर्म करना चाहिए। कर्मयोगानुष्ठान में कर्मफल की तृष्णा का सर्वथा परित्याग कर देना चाहिए। क्या कर्म करना चाहिए तो कहते है कि नित्य कर्म करना चाहिए। अग्निहोत्र नित्यकर्म होते हैं। कर्मफल का संकल्प ही चित्त के विक्षेप का हेतु होता है। जो सभी कर्मों को तथा उनके फलों को त्यागता है वह परमार्थ सन्यासी कहलाता है। जो परमार्थ संन्यासी होता है। त्यक्तसर्वधर्मकर्मसाधना के द्वारा सभी कर्मो के तथा उनेक संकल्प में निवृत्त होता है। संकल्प तथा फल का विषय अभिसन्धि कहलाती है। कर्मफल का संकल्प ही चित्तविक्षेप का हेतु होता है। इसलिए जो कोई कर्मी संन्यस्तफलसङ्कल्प वाला यदि होगा तो वह समाधानवान तथा अविक्षितचित्त वाला भी होगा।

ध्यान दें:

फलनिरपेक्ष कर्मयोग ध्यानयोग का बहिरङ्ग साधन होता है। नीचे गीता के कुछ श्लोक दिये गये है यहाँ यह स्पष्ट कहा गया है कि कर्मयोग किनके द्वारा करना चाहिए। कितने समय तक करना चाहिए। कर्मयोग सफल होता है अथवा नहीं इसके क्या लक्षण होते है। श्लोक को उपस्थापित करके अन्त में उनका सारांश दिया जा रहा है।

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते॥ 6.3॥
यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते।
सर्वसङ्कल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते॥ 6.4॥
उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः॥ 6.5॥
बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत्॥ 6.6॥
जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः॥ 6.7॥
ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः॥ 6.8॥
सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते॥ 6.9॥

तो ध्यान योग में आरूढ़ होने की इच्छा करता है वह आरुरुक्षु कहलाता है। आरुरुक्षु को कर्म फलों को सन्यस्य करके कर्म करना चाहिए। उसके कर्म का कारण साधन कहलाता है। वह कर्तव्यत्व के द्वारा उपदिश्य होता है। जब वह योगारूढ़ होता है तब कर्म का शम उपशम सभी कर्मों से निवृत्ति के कारण योगारूढ़ का साधन कहलाता है। उनके कर्म का त्याग करना चाहिए। यह कैसे होगा। जब तक कर्मों से उपरती नहीं हो तब तक जितेन्द्रिय होकर के चित्त को लगाना चाहिए। ऐसा होने पर जल्दी ही योगारूढ हो जाता है। उसका व्यास जीने इस प्रकार से कहा है।

नैतादृशं ब्राह्मणस्यास्ति वित्तं यथैकता समता सत्यता च।
शीलं स्थितिर्दण्डनिधानमार्जवं ततस्ततश्चोपरमः क्रियाभ्यः॥ (म.भा.मो.ध.175.37)

साधक योगारूढ़ हुआ अथवा नहीं यह कैसे समझा जाता है।

इन्द्रियों के शब्दादि अर्थ होते है। नित्यनैमित्तिककाम्य प्रतिषिद्ध कर्म होते हैं। उन अर्थो में प्रयोजन अभाव वाली बुद्धि के द्वारा कर्त्तव्य बुद्धि नहीं करता है तथा उनका सङ्ग भी नहीं करता है। अर्थात् अर्थ से तथा कर्म से जो प्राप्तव्य होता है वह प्रयोजन नहीं होता है। इस प्रकार की उसकी बुद्धि हो जाती है। तब वह अर्थ तथा कर्म में आसक्त नहीं होता है। अर्थात् अर्थ तथा कर्म के द्वारा जो प्राप्तव्य होता है वह प्रयोजन नहीं होता है इस प्रकार की उसकी बुद्धि हो जाती है। तब उसकी अर्थ तथा कर्म में प्रीति नहीं होती है। इस प्रकार से वह सभी कर्मों से सन्यस्त होने के कारण सर्व संकल्प संन्यासी योगारूढ़ कहलाता है।

जिसके द्वारा कार्यकारणसंघातरूप आत्म वश में होती है वह जितेन्द्रिय होता है। उस प्रकार की आत्मा ही आत्म की बन्धु होती है। अन्य लौकिक बन्धु बन्धु नहीं होते हैं। इसी प्रकार से जितात्मा तथा प्रशान्त जिसका अन्तः करण होता है वह प्रशान्तात्मा कहलाता है। तथा शीतोष्णदुःरूपों में वह सम होता है। जिसे शास्त्रोक्त पदार्थों का परिज्ञान होता है। वह उपासनादि करके उन विषयों का ज्ञान भी कर लेता

ध्यान दें:

है अत: वह ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कहलाता है। जो लोष्टाश्म तथा काञ्चन में सम होता है वह योगारूढ कहलाता है। उसके द्वारा कर्म करके तथा उससे जो शुद्धचित्तरूपी फल प्राप्त किया जाता है। इस प्रकार से वह ध्यान योग के योग्य हो जाता है।

और जो योगारूढ़ होते हैं वे कोई विशिष्ट ही होते हैं। उसका लक्षण है-

जो साधुओं में तथ पापियों में समबुद्धि होता है वह योगारूढों में भी विशिष्ट हो जाता है।

साधु कौन होते हैं तथा पापी कौन होते हैं।

जो प्रत्युपकार की उपेक्षा नहीं करता है तथा स्नेहवान मित्र होता है।जो किसी का भी पक्ष स्वीकार नहीं करता है वह उदासीन होता है। जो दोनों विरुद्ध पक्षों का हितैषी होता है वह मध्यस्थ कहलाता है। जो आत्मा का अप्रिय होता है वह आत्मा का द्वेषी तथा जो सम्बन्धी होता है वह बन्धु होता है। इनमें जो शास्त्रों के अनुसार चलते है वह साधु होते हैं तथा जो प्रतिषिद्धकारी होते है वे पापी होते है।

इस प्रकार से विषय कर्मों में अनुषङ्गहीन सर्वसंकल्पसंन्यासी, जितेन्द्रिय, जितात्मा, प्रशान्त, समाहित, शीतोष्णादिबाह्य द्वन्दों में सम, मानोपमानादि मानस द्वद्वों में सम ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा, कूटस्थ, समलोष्टाश्माकाञ्चन ही योगरूढ़ कहलाता है। उनमें भी जो साधुओं तथा पापियों में समबुद्धि रखता है वह विशिष्ट होता है।

इस प्रकार से योगरूढ़ को आगे ध्यानाभ्यास करना चाहिए।

पाठगत प्रश्न 22.4

1. उपासना के कितने भेद होते हैं तथा कौन-कौन से होते हैं?
2. उपासना का परम प्रयोजन क्या होता है?
3. सगुण ब्रह्म की उपासना के कितने भेद होते हैं तथा वे कौन-कौन से हैं?
4. वेदान्तसार में उपासना के क्या लक्षण बताए गए हैं?
5. सगुणब्रह्मोपासना तथा निर्गुणब्रह्मोपासना इन दोनों के मध्य मोक्ष का साधन क्या होता है?
6. परमार्थ संन्यासी कौन होता है?

   (क.) जो काम्यकर्मों को त्यागता है।

   (ख.) जो उपासना को त्यागता है

   (ग.) जो नित्यनैमित्तिक प्रायश्चित को त्यागता है।

   (घ.) जो काम्य निषिद्ध नित्यनैमित्तिक प्रायश्चित तथा उपसना को त्यागता है।
7. चित्त के विक्षेप का हेतु क्या होता है?
8. ध्यानयोग के बहिरङ्ग साधन कौन-से होते हैं?

ध्यान दें:

पाठ सार

इस पाठ में निष्कामकर्मयोग की उपासना का विषय मुख्यरूप से वर्णित है। उसमें सबसे पहले साधनों में जो क्रम है उसका उपस्थापन किया गया है। उसके बाद वेदान्तसाधनानुकूल कर्म विभाग का प्रदर्शन किया गया है। अन्तरङ्ग तथा बहिरङ्ग साधन के निमित्त विभाग का यहाँ पर संक्षेप से प्रकटन किया गया है।

अज्ञान के द्वार ज्ञान आवृत्त होता है। इसलिए जन्तु मोहग्रस्त हो जाता है। भले ही ब्रह्म ज्ञानस्वरूप ही होता है फिर भी वह अज्ञान का विरोधी नहीं होता है। इसलिए उसके द्वारा अज्ञान की निवृत्ति नहीं होती है। चित्त की कोई विशिष्ट वृत्ति ही अज्ञान का नाश करती है। ये विषय उपस्थापित किए गए है।

संन्यास विविदिषा तथा विद्वत्संन्यास के भेद से दो प्रकार का होता है। काम्यकर्म बन्धन करतें है इसलिए उनके त्याग का ही विधान किया गया है। फिर भी फलांशों को त्याग करके अनुष्ठान करते हैं तो चित्त की शुद्धि ही होती है। वहाँ नित्यादिकर्मो के द्वारा चित्त की शुद्धि की जाती है। चित्त की अशुद्धि निषिद्ध कर्मजन्य पाप ही होता है। वह ही मल होता है। उसी का नाश नित्यादिकर्मों के द्वारा किया जाता है। उपासना चित्त के विक्षेप की शान्ति के लिए की जाती है। नित्यादियों के जिस प्रकार से चित्तशुद्धयदि फल होते हैं वैसे ही पितृलोक देवलोक प्राप्ति रूप भी फल होते हैं। इसलिए इन विषयों का भी इस पाठ में वर्णन दिया गया है।

आपने क्या सीखा

- साधनों में विद्यमान क्रम का सप्रमाण ज्ञान
- अंतरंग तथा बहिरंग साधनों के विभाग
- जन्तुओं के मोह का कारण जाना,
- अज्ञान के नाश का उपाय
- संन्यास के भेद
- काम्यादि कर्म, निषिद्ध कर्मों के बारे में ज्ञान
- कर्म के भेद को जाना,
- काम्पनिषिद्ध नित्यनैमित्तिक, प्रायश्चित कर्मों का सविस्तार ज्ञान प्राप्त किया
- उपासना को जाना।

पाठान्त प्रश्न

1. वेदान्त में अन्तरङ्गसाधन तथा बहिरङ्ग साधन इस प्रकार के दो विभाग क्यों किए गए हैं?
2. किस प्रकार का ज्ञान अज्ञान का नाशक होता है विवरण दीजिए।
3. संन्यास के भेदों का वर्णन कीजिए।

ध्यान दें:

4. मोक्ष साधने की अनुपूर्वी को स्पष्ट कीजिए।
5. मुमुक्षुओं को काम्यादिकर्मों का त्याग किस प्रकार से करना चाहिए?
6. कर्मभेदों का वर्णन कीजिए।
7. चित्त के मल को स्पष्ट कीजिए।
8. गुणों का चित्त में प्रभाव किस प्रकार से होता है विस्तार पूर्वक बताइए।
9. नित्यकर्मों का परिचय दीजिए।
10. काम्यकर्मों का सक्षेप में परिचय दीजिए।
11. प्रायश्चित का विस्तारपूर्वक वर्णन कीजिए।
12. नित्यादि कर्मों के फलों के बारे में वर्णन कीजिए।
13. उपासना की विशदता को लिखिए।
14. कर्मयोग के अनन्तर ही उपासना के द्वारा अनुष्ठान में क्या हेतु है।
15. कर्मयोग के द्वारा किसको दूर करना चाहिए जिससे कर्मयोग का साफल्य प्राप्त हो सके।

पाठगत प्रश्नों के उत्तर 22.1

उत्तर-1

1. वेदोक्तसाधनसम्पत्ति अनन्तर ही ब्रह्मजिज्ञासा करनी चाहिए।
2. धर्मजिज्ञासा के पूर्व भी ब्रह्मजिज्ञासा सम्भव होती है।
3. काम्य, निषिद्ध, नित्य, नैमित्तिक, रूप वाले सभी कर्मों का विधिवत् त्याग ही सर्वकर्म संन्यास कहलाता है।
4. बुद्धिवृत्ति रूपा विद्या आत्मा के आवरक का नाश करती है।
5. जो कर्म योग नहीं करता है वह फलाशय कर्म करता हुआ कर्मबद्ध हो जाता है। तथा संसारचक्र को प्राप्त करता है।
6. ज्ञान का आवरण अज्ञान है न की कर्म।
7. (क) ब्रह्मज्ञानम्
8. तद्बुद्धि तदात्मा तन्निष्ठ ज्ञाननिर्धूतकल्मष जन्तु संसार चक्र का अतिक्रमण करता है।
9. विविदिषासंन्यास तथा विद्वत्संन्यास के भेद से संन्यास दो प्रकार का होता है। विद्वत्संन्यास में सभी कर्मों का त्याग किया जाता है। विविदिषु कर्मयोग अनुवर्तन चित्तशुद्धि होने तक करना चाहिए।
10. भले ही सभी कर्मों का त्याग ही मोक्ष होता है फिर भी चित्त शुद्धि के लिए तथा प्रतिबन्धक निवृत्ति के लिए नित्यादि कर्म करने चाहिए।

ध्यान दें:

पाठगत प्रश्नों के उत्तर 22.2

1. काम्यकर्म, निषिद्धकर्म, नित्यकर्म, नैमित्तिककर्म तथा प्रायश्चित्तकर्म इस प्रकार से पाँच प्रकार के कर्म माने जाते हैं।
2. जो काम्य कर्म वर्णाश्रमकर्मरुप से प्राप्त होते हैं तो वो भी यदि निष्कामभावना से किये जाते हैं तो वे भी चित्तशुद्धिकारक होते है।
3. चित्त के मल के नाश के लिए अर्थात चित्त की शुद्धि के लिए नित्यादि कर्मों का अनुष्ठान किया जाता है।
4. अन्त: करण के घटकद्रव्य सत्वरजतम इस प्रकार से तीन गुण होते हैं। वहाँ पर भी सत्त्वरजतमोगुणमय अज्ञान से तथा सत्वगुण के प्राधान्य अन्त: करण उत्पन्न होता है।
5. विषयासक्ति से चित्त मलिन होता है।
6. नित्यादि कर्म चित्त के मल के नाशक होते हैं तथा चित्त की एकाग्रता को सम्पादित भी करते हैं।

पाठगत प्रश्नों के उत्तर 22.3

1. काम्य कर्मो को फल की भावना से करने पर वे अपने फल को देने को लिए फिर से देह धारण करवाते हैं। मोक्ष होने पर तो देहादि धारण नहीं होती है। इस प्रकार से मोक्ष के द्वारा काम्य के फलों का विरोध होता है। इसलिए काम्य कर्मो को त्यागना चाहिए। इस प्रकार से जो कृतक होते हैं वे अनित्य होते हैं इस न्याय के अनुसार काम्यफल अनित्य होते हैं। इसलिए भी अनित्य का त्याग करना चाहिए।
2. नरकादि के साधन ब्राह्मण हननादिकर्म निषिद्धकर्म कहलाते हैं। वेद में जिन कर्मों को निषिद्ध माना है वे यहाँ पर निषिद्ध कर्म कहलाते हैं।
3. अकरण में प्रत्ययवायवसाधनस्वरूप नित्य सन्ध्यावन्दनादि कर्म वेदान्त सार में कहे गये हैं।
4. नैमित्तिक पुत्रजन्मादि जातेष्ट्यादि कर्म होते है अर्थात् जिनके निमित्त कारण होते है व नैमित्तिक कहलाते हैं।
5. प्रायश्चित्त पापक्षयसाधन चान्द्रायणादि कर्म होते हैं।
6. नित्यनैमित्तिकप्रायश्चि कर्मों का बुद्धि शुद्धिरूप आवश्यक प्रयोजन होता है।
7. नित्यनैमित्तिक प्रायश्चित तथा उपासनाओं के अवान्तरफल अर्थात् गौण फल होते हैं जिससे पितृलोक की तथा सत्यलोक प्राप्ति होती है।

पाठगत प्रश्नों के उत्तर 22.4

1. उपासना दो प्रकार की होती है। सगुणब्रह्मविषयक तथा निर्गुणब्रह्मविषय।
2. उपासना का परम प्रयोजन चित्त की एकाग्रता है।

ध्यान दें:

3. सगुणब्रह्मविषयक दो प्रकार की उपासनाएँ उपनिषदों में सुनाई देती है। अहङ्कारोपासना तथा प्रतीकोपसना,

4. उपासनानि सगुणब्रह्मविषयमानसव्यापाररूपाणि शाण्डिल्यविद्यादीनि, इस प्रकार से वेदान्तसार में उपासना का लक्षण बताया गया है।

5. निर्गुणब्रह्मोपासना।

6. (घ) जो नित्यनैमित्तिकं प्रायश्चित्त कर्मों का त्याग करता है।

7. कर्मफलसंकल्प ही चित्त के विक्षेप का हेतु होता है।

8. फलनिरपेक्ष कर्मयोग ध्यानयोग का बहिरङ्ग साधन होता है।